संतश्री ज्ञानेश्वर महाराज द्वारा रचित एवं श्री दाते महाराज द्वारा अनुवादित ज्ञानेश्वरी के अध्याय संख्या 18 में वर्णित गुरु सेवा वर्णन

आचार्योपास्ति

(ओवी संख्या 369 से 458 तक)

सकल भाग्यका जन्मस्थान। करे जीवको जो ब्रह्म। वो जानो तुम अर्जुन। है एक गुरुसेवा ॥369॥ वही आचार्योपास्ति। हो जाय प्रकट तुझप्रति। जभी हो जाय संप्रति। अवधान तव एकविध ॥370॥ गंगा जलसंपत्ति सकल। लेके उदधिमें करे प्रवेश। या जैसे सकल वेद। होते प्रविष्ट ब्रह्मपदमें ॥371॥ या जैसे पतिव्रता अपना जीव। और सर्व गुणावगुण। करती है पतिको अर्पण। आत्मभावसे संपूर्ण ॥372॥ वैसे अंतर्बाह्य सर्वस्व। करे जो गुरुकुलको अर्पण। और होता है स्वयं ही गृह। गुरुभक्तिका ॥373॥ विरहणीके मनमें प्रियकर। रहता है जैसे अखण्ड। वैसे जिस देशमें होता है गुरुगृह। उसका ही जिसको ध्यान ॥374॥ उस देशसे आवे जो पवन। उसका करे सन्मान। और साष्टांग करके नमन। बोले, चलिए मम गृह ॥375॥ सद्गुरुप्रेममें तल्लीन। उसी दिशाका जिसको चिंतन। करे मनसे स्थानापन्न। गुरुगृहमें ही सदा ॥376॥ गुर्वाज्ञातंतुसे बद्ध। देहगृहमें रहे अकेला एक। जा न सके गुरुगृहकी ओर। बद्ध वत्स धेनुके पास ॥377॥ कब मैं हो जाऊं बंध-मुक्त। मिलेंगे स्वामी मुझे कब। ऐसे सोचते सोचते एकैक क्षण। लगे उसको युगान्तसम ॥378॥ इसी अवस्थामें अकस्मात। आ जाय गुरुग्रामसे दूत। या सहज मिले कोई नर। तो मृतप्रायको जीवन ॥379॥ या जैसे शुष्कांकुरऊपर। गिरे अमृतकी धार। या अल्पोदकमेंसे मत्स्य। आ जाय सागरमें ॥380॥ या जैसे दरिद्रको मिले धन। अंधेको दृष्टि नूतन। या भिखारीको इन्द्रपद। हो जाय प्राप्त ॥381॥ वैसे गुरुकुलका सुनते ही नाम। होत है इतना आनंद। कि जनु देना चाहे वो आलिंगन। आकाशको भी ॥382॥ गुरुकुलविषयमें तुम। देखोगे जहां एवंविध प्रेम। वहां जानो है ज्ञान। सेवक जैसे ॥383॥ और अभ्यंतरमें उसके अर्जुन। रहता है श्रीगुरुकारूप। जिसका ही करे वो ध्यान। प्रेमातिशयसे ॥384॥ हृदयशुद्धता ही एक प्रांगण। उसमें करे वो गुरुका प्रतिष्ठापन। उसका ही करनेके लिए आराधन। बने वो सर्वस्व ॥385॥ या कहो ज्ञानांगणमें मंदिर। है जो अति आनंदमय। उसमें श्रीगुरुरूप शिवलिंगपर। करता रहे ध्यानाभिषेक ॥386॥ होते ही बोधरूपीसूर्योदय। बुद्धिकरंडमें भरके सात्विक भाव। गुरुरूप शंकरके अर्पण। करे लक्ष संख्या ॥387॥ प्रातः सायं मध्यान्ह। निरंतर जो शुद्धकाल। जलाकर

जीवपण । करे आरती ज्ञानदीपसे ॥388॥ साम्यरसका नैवेद्य । करे अर्पण अखण्डित । बने स्वयं पूजक । गुरु तो शिवलिंग ॥389॥ या जीवरूप शय्यापर । गुरुको समझकर पतिराज । उसके साथ प्रेमसे भोग । करना चाहे उसकी बुद्धि ॥390॥ जिस कालमें उसका मन । प्रेमरससे भरे पूर्ण । तो उसको देता है नाम । क्षीराब्धि ऐसे ॥391॥ वहां गुरु ध्यान-जनित महासुख । उसको ही मानके शेषशय्यारूप । समझे गुरुको श्रीविष्णुसम । है उसपर निद्रिस्त ॥392॥ तब श्रीगुरुपादसेवनार्थ । होता है स्वयं ही लक्ष्मीरूप । या गरुड़सम होके सन्मुख । खड़ा रहेगा सतत ॥393॥ गुरुरूप विष्णुके नाभीकमलज । होता है स्वयं ही ब्रह्मदेव । एवंविध ध्यानसुखानुभव । लेवे मनोभावसे ॥394॥ कभी वो प्रेमभर । गुरुमायके अंकपर । शयन करे जैसे बालक । स्तनपानसंतुष्ट ॥395॥ या चैतन्यवृक्षतल । गुरुको समझके गाय । होता है देखो अर्जुन । स्वयं वत्स ॥396॥ अथवा किसी एक समय । गुरु-कृपासलिलमें मत्स्य । है ऐसे कल्पनामय । करे वो चिंतन ॥397॥ कल्पना करे उसका मन । है गुरुकृपा ही अमृत । और स्वयं सेवावृत्तिरूप । कोई एक पौधा ॥398॥ कल्पना करे हूं मैं पक्षिशावक । बिना पांख बिना नयन । कैसा विलक्षण गुरुप्रेम । है यह अपार ॥399॥ गुरुको कल्पे पक्षिणी । उसके चंचूसे ले अन्नपाणी । गुरुको बनावे जलतरणी । तरे उस आधारसे ॥400॥ पूर्ण भरे हुवे समुद्रमें । आती हैं लहरेंपर लहरें । वैसे प्रेमातिशयसे । ध्यान प्रसवे ध्यानको ॥401॥ किंबहुना एवं वो अभ्यंतर । लेता है गुरुध्यानका अनुभव । अब सुनो तुम अर्जुन । उसकी बाह्यसेवा ॥402॥ धरे मनमें ऐसी इच्छा । करूंगा मैं उत्तम सेवा । जिससे उसे कहेंगे मांगना । होके गुरु प्रसन्न ॥403॥ हो जाय मन उपस्थित उत्तम । तब होंगे गुरु सुप्रसन्न । तो मैं भी होके विनम्र । करूंगा विनति ऐसी ॥404॥ है जो आपका परिवार । उन सबका भी स्वरूप । होना चाहता हूं देव । मैं ही एक ॥405॥ और आपके पूजार्थ । है जितने जितने उपकरण । उन सबका भी स्वरूप । हो जाऊं मैं एक ॥406॥ ऐसा मांगते ही वर । तथाऽस्तु बोलेंगे श्रीगुरुवर । तब हो जाऊं मैं परिवार । उनका सर्व ॥407॥ उपकरणजात सकल । हो जाऊं मैं प्रत्येक । तब ही उपास्तिका नवल विशेष । आये समझमें ॥408॥ है गुरु बहुतोंकी माय । किन्तु है मेरी ही केवल । ऐसे करूंगा मैं गुरुआराधन । तथाऽस्तु कहेगी गुरुकृपा ॥409॥ गुरु प्रेम लेवे मेरा ही छंद । मुझमें ही करे वो क्षेत्र-संन्यास । या लेवे वो एक पत्निव्रत । मम सेवारूप पत्निके साथ ॥410॥ पवन हो अति वेगवान । किन्तु जा न सके चतुर्दिशा-बाहर । वैसे गुरुकृपा को पंजर । हो जाऊं मैं सर्वथा ॥411॥ स्वामिनी जो गुरुसेवा । उसको अर्पूं अलंकार गुणरूपा । हो

जाऊं मैं आच्छादन उसका । भक्तिरूप ॥412॥ हो जया जब गुरुकृपा की वृष्टि । तब हो जाऊं मैं नीचे पृथिवी । एवं मनोरथोंकी सृष्टि । रचना करूं मैं अनंत ॥413॥ हो जाऊं गुरुका भुवन । न देऊं किसीको अवसर । और वहां भी करूंगा दास्यत्व । मैं ही केवल ॥414॥ गमनागमन अवसर पर । उल्लंघन करते देहली या द्वार । वे सब ही तद्रूप । होऊं मैं द्वारपाल ॥415॥ होऊं मैं गुरुके पादत्राण । डालूं मैं वे उनके चरण । छत्र और छत्रधर । हो जाऊं मैं दोनों ॥416॥ नीचे या ऊपर उनके साथ । चंवरीधारक मैं ही एक । हाथसे देत आधार । मैं चलूंगा उनके आगे ॥417॥ होऊं मैं ही जलपात्र । मुखक्षालनार्थ मैं जलरूप । उस जल त्यागार्थका जो पीकपात्र । होऊं मैं वो ही ॥418॥ देऊंगा मैं उनको बीड़ा । उच्छिष्ट भी लेता रहूंगा । स्नानार्थ सर्व सिद्धता । करूंगा मैं ही ॥419॥ हो जाऊं गुरुका आसन । अलंकार परिधान । चंदनादि उपचार । सर्व ही मैं ॥420॥ मैं ही करूंगा स्वयं पाक । मैं ही खिलाऊंगा उपहार । मैं ही आरतीसे निछावर । करूंगा श्रीगुरुपर ॥421॥ करेंगे वे जब भोजन । तो मैं ही बैठूं उनके साथ । बीड़ा भी भोजनोत्तर । देऊंगा मैं ही ॥422॥ भोजनोच्छिष्ट पात्र । मैं ही उठावूं सत्वर । शय्या भी करके सादर । करूंगा पादसंवाहन ॥423॥ हो जाऊं मैं सिंहासन । बैठेंगे श्रीगुरु उस पर । तब ही होगी संपूर्ण । सेवा मेरी ॥424॥ जिस जिस वस्तुकी ओर । जाय श्रीगुरुका मन । हो जाऊं मैं वही वस्तुरूप करूं ऐसा चमत्कार ॥425॥ श्रीगुरुके श्रवणरूप आंगण । उसमें हो जाऊं मैं शब्द । उनका होगा जिसको अंगस्पर्श । वो स्पर्शविषय मैं होऊं ॥426॥ श्रीगुरुके नयन । कृपादृष्टिसे करे अवलोकन । वे सब ही वस्तुजात । हो जाऊं मैं ॥427॥ उनकी जिह्वा चाहे जो रस । वो सब मैं होऊं रसरूप । बन जाकर मैं गंधरूप । करूं उनकी प्राणसेवा ॥428॥ इसीप्रकार वस्तुजात । करूंगा मैं व्याप्त समस्त । और गुरुसेवा यथार्थ । करूंगा ऐसे मनोगत ॥429॥ जबतक देह रहेगा जीवित । तबतक चलेगी सेवा ईदृश । मरणोत्तर भी सेवाके लिए प्रेम । धरूंगा मैं बुद्धिमें ॥430॥ जहां श्रीगुरुके पूज्य चरण । वहांकी मिट्टीमें जान । करूंगा मैं देह राख अर्पण । ऐसे चाहे मेरा मन ॥431॥ जिस जलको करेंगे स्वामी स्पर्श । उसीमें मेरे देहान्तरका आप । करूंगा मैं विलीन । करना ऐसे मैं चाहूं ॥432॥ श्रीगुरुके मंदिरमें जो दीप । या उनके मंगलारतीके जो दीप । उनके तेजमें मम शरीरस्थ तेज । मिला देऊंगा मैं तब ॥433॥ पंखा चवरीमें मेरे प्राण । करूंगा मैं विलीन । जिससे हो जाय सेवा सहज । श्रीगुरुदेहकी ॥434॥ जिस जिस स्थानमें हो गुरुवास । उसी स्थानका जो अवकाश । वहां ही मम शरीर स्थित आकाश । करूंगा मैं विलीन ॥435॥ मैं जीवित या मृत । छोडूं न सेवा निमिष एक । या न सौंप देऊं अन्यपर ।

कल्पकोटि काल ॥436॥ यहां तक जिसका मन । है गुरुसेवार्थ सोत्सुक । सेवा करने पर भी गुप्त । होता नाहीं सर्वथा ॥437॥ कहे न दिवस या रात्र । सेवाकर्म महान् या अल्प । होता है वो प्रसन्न । कार्य बाहुल्यसे ॥438॥ गुरुसेवा कर्म । हो कितना ही कठिन । तो भी करे अकेला बहुविध । होकर गगनसे महान ॥439॥ सेवा–बुद्धिसे ही प्रथम । उसका शरीर ही करे वर्तन । इसीलिए करे वो पहले कर्म । सेवार्थ इच्छा अनंतर ॥440॥ गुरु करे क्रीड़ा कोई । तो वह अपना जीवित भी । करे अर्पण सर्वस्व ही । तत्क्रीड़ा सिद्धयर्थ ॥441॥ गुरु सेवासे होवे कृश । गुरुप्रेमसे होवे पुष्ट । गुरु आज्ञारूप निवासस्थान । करे वो अपना ॥442॥ गुरुकुल कारण कुलीन । गुरु बंधु प्रेमसे सज्जन । गुरुसेवा यही एक व्यसन । होता है उसका ॥443॥ गुरुसंप्रदायके आचार । यही जिसके वर्णाश्रमधर्म । गुरुसेवा यही नित्यकर्म । रहता है जिसका ॥444॥ गुरु क्षेत्र गुरु देवता । गुरु माय गुरु पिता । गुरुपूजासे पार्थ दूसरा । जाने ना वो सर्वथा ॥445॥ श्रीगुरुका द्वार । यही जिसका सर्वस्व । गुरुसेवकको माने भ्रातृसम । प्रेमभावसे सर्वदा ॥446॥ देखे उसका मुख । वह गुरुनाम मंत्र । और गुरुवाक्यविरहित । न करे स्पर्श शास्त्रांतर ॥447॥ हो कोई गुरुस्पृष्ट जल । उसको माने वो तीर्थ । किं बहुना त्रिलोकमें जो तीर्थजात । वे भी उसमें हैं माने ॥448॥ मिल जाय कभी गुरुच्छिष्ट । तो इतना होता है संतुष्ट । कि उसके सामने समाधिसुख । माने वो तुच्छ ॥449॥ गुरुचरणोद्धलित । होते हैं जो रजःकण । उसको मोक्षसुखतुल्य । माने वो गुरुभक्त ॥450॥ रहने दो यह बात । नाहीं गुरुभक्तिका पार । किन्तु है जो बुद्धिसे अतीत । उस कृपासे हुई भक्ति ॥451॥ जिसको है इस भक्तिकी इच्छा । जिसको है इसकी उत्सुकता । माने न जो अन्य कोई अच्छा । इस भक्ति व्यतिरिक्त ॥452॥ उसमें ही है तत्त्वज्ञान । उसीके कारण ज्ञानका गौरव । ऐसा सेवक ही है देव । ज्ञान है उसका भक्त ॥453॥ समझो तुम है यह सत्य । उस पुरुषमें ही ज्ञान । है साक्षातरूपसे प्रकट । जगोद्धारके लिए ॥454॥ इस गुरुभक्तिके कारण । है मेरा अभिलाष पूर्ण । इसीलिए इतना व्याख्यान । किया मैंने ॥455॥ अन्यथा हस्त होते भी हस्तहीन । नयन होते भी नयनहीन । चरण होते भी चरणहीन । रहूं जब गुरुसेवा बिन ॥456॥ गुरुवर्णनमें गंगा । अनाथ पारभूत सर्वथा । तथापि है मनमें गुरुसेवा । करनेके लिए प्रेम ॥457॥ इसी कारणसे सज्जन । इस आचार्योपास्ति पदका व्याख्यान । करना पड़ा इतना विस्तृत । कहता हूं मैं ज्ञानदेव ॥458॥